दि मॉडर्निटी ऑफ़ संस्कृत / सिमोना साहनी, परमानेंट ब्लैक, रानीखेत, 2009, पृष्ठ 213, मूल्य : ₹495 (सजिल्द)

संस्कृत की आधुनिकता फिर एक बहस

राधावल्लभ त्रिपाठी

सिमोना साहनी की रचना *दि मॉडर्निटी ऑफ़ संस्कृत* हमारे समय में संस्कृत की उपस्थिति की एक प्रासंगिक पड़ताल है। पुस्तक के पाँच अध्यायों में संस्कृत को लेकर हुए आधुनिक विमर्श के विभिन्न पक्ष सामने आते हैं, और भूमिका में इस समग्र विवेचन के मानक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। लेखिका का मानना है कि समकालीन विनियोजन के लिए परम्पराओं की पुनर्व्याख्याएँ अलग-अलग समयों में अलग-अलग तरह से की जाती रही हैं और उसके बिना परम्परा का सातत्य सम्भव नहीं है। पर इस विनियोजन का प्रत्याख्यान भी साथ में चलता रहता है। वह न किया जाए, तब भी परम्पराओं की शक्ति के स्रोत सूख जाते हैं। इस तरह परम्पराओं का पुनर्व्यवस्थापन और उस पुनर्व्यवस्थापन का विखंडन परम्पराओं के अपने आप को लगातार प्रासंगिक और ताज़ा बनाये रखने की प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा है। इस प्रक्रिया में प्राचीन साहित्य के नये संदर्भों में विनियोजन का भी पुनर्विनियोजन होता चलता है।

इस उपोद्घात से लगता है कि सिमोना साहनी इस पुस्तक को उपनिवेशवाद तथा उत्तर-उपनिवेशवाद के दौर में हिंदूवादी दृष्टि से किये गये संस्कृत-साहित्य के विनियोजन के प्रत्याख्यान पर अथवा उसके बरक्स किसी अन्य दृष्टि से किये जा रहे विनियोजन पर केंद्रित करना चाहती हैं। पर पहले अध्याय को छोड़ कर शेष अध्यायों में उनका यह ध्येय चरितार्थ नहीं हुआ है।

पुस्तक के पाँच अध्यायों में लेखिका ने कालिदास का अभिज्ञानशाकुंतल, भगवद्गीता, अश्वघोष और कालिदास के काव्य, महाभारत आदि प्राचीन काव्यों पर आधुनिक भारतीय चिंतकों या साहित्यकारों द्वारा किये गये सर्जनात्मक या विवेचनात्मक पुनर्विनियोजन की मीमांसा की है। भूमिका में सिमोना साहनी ने बताया है कि 1992 के आसपास जब उन्होंने संस्कृत पढ़ना शुरू किया, तो संस्कृत उनके लिए हिंदू राष्ट्रवाद का पर्याय थी। इसके साथ ही उनका यह भी प्रत्यय रहा है कि संस्कृत की सम्पदा का लगभग समग्र रूप से हिंदूवाद ने अपने हक़ में विनियोजन कर लिया

है। उनके मंतव्यों का कुल सार यह है कि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में संस्कृत का विनियोग प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने अपने हित में किया। संस्कृत जिसे जोड़ने वाली शक्ति के रूप में देखा गया, वह आधुनिक काल में एक विभाजनकारी तत्त्व बनती गयी। वह अभिजात और अनभिजात के बीच खाई बनाती रही। संस्कृत की इस तस्वीर के समानांतर उसकी दूसरी तस्वीर बनाने के प्रयासों का सिमोना ने यहाँ विवेचन किया है। पर इन प्रयासों में गाँधी का गीता-विमर्श और धर्मवीर भारती का *अंधा युग* सिमोना के अनुसार अंतत: उसी हिंदूवादी दृष्टि का समर्थन करते हैं, जिसका निवारण उन्हें अभीष्ट है। अत: एक अंश में पुस्तक में वदतोव्याघात हो जाता है। इसके साथ ही, इस तथ्य पर सिमोना ने विचार नहीं किया कि जिस भाषा के अपने साहित्य में अठारहवीं शताब्दी तक हिंदू शब्द ही अनुपस्थित था, और धर्म शब्द जिसमें रिलीजन के भिन्न आशय के साथ व्यवहृत होता आया, उसे हिंदूवाद से जोड़ कर क्यों और कैसे पढ़ा जाता रहा है? यदि ऐसा पाठ सम्भाव्य बना, तो क्या उस भाषा की अपनी साहित्यिक और शास्त्रीय परम्परा सही पाठ के लिए आमंत्रित नहीं करती? जो भी पाठ उन्होंने यहाँ प्रस्तुत किये हैं, वे पुनर्विनियोजित पाठ हैं।

यह सत्य है कि उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण और स्वतंत्रता संग्राम के समय संस्कृत को अतीतोन्मुख दृष्टि और अध्यात्म से जोड़ कर हिंदू राष्ट्रवाद के पर्याय के रूप में पढ़े जाने का उपक्रम हुआ। पर इसी समय में संस्कृत के ही पंडितों ने नये ज्ञान-विज्ञान और यूरोपीय विमर्श से अपने को जोड़ कर संस्कृत के माध्यम से विपुल शास्त्रार्थ और तत्संबंधी साहित्य की रचना भी की। संस्कृत की अतीतोन्मुखी संकीर्ण सम्प्रदायवादी या हिंदू राष्ट्रवादी छवि को ध्वंस करने की प्रक्रिया भी उसी के अपने धरातल पर जारी रही। सिमोना जैसे अध्येताओं का पश्चिम में सक्रिय एक वर्ग है, जो इस प्रक्रिया से या तो अनभिज्ञ है या उसकी उपेक्षा करता है। मसलन ऐसे अध्येताओं के आगे अगर यह तथ्य रखा जाए कि उन्नीसवीं और बीसवी शताब्दियों में संस्कृत में जो नया साहित्य रचा गया, वह अपनी मात्रा में उसमें अठारहवीं शताब्दी तक रचे गये उसके उपलब्ध साहित्य से कहीं अधिक है, और गुणवत्ता में भी उससे आगे का हो सकता है, तो ऐसे अध्येता इस तथ्य को विचारणीय नहीं मानेंगे; क्योंकि ये लोग संस्कृत को आधुनिक सर्जनात्मकता का माध्यम न मान कर उपरिचर्चित विनियोजन के प्रत्याख्यान के लिए साधन मानते हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी खाद दे दे कर ओरिएंटलिज़्म का पौधा संस्कृत को क़ब्रगाह मान कर उसमें रोपा और पनपाया गया। प्राच्यविद्याविदों या ओरिएंटलिस्ट्स की जमात अपनी मानसिकता में उपनिवेशवादी और वैदेशिक थी। संस्कृत को आधुनिक सर्जनात्मकता का माध्यम न मान कर कथित विनियोजन के प्रत्याख्यान के लिए साधन मानने वाले अध्येता भी विदेशी मानसिकता से ही बँधे हैं। वे संस्कृत की शव-परीक्षा से नया सृजन और चिंतन करना चाहते हैं। तब वे संस्कृत के अपने संसार के लिए उसी तरह बाहरी हैं, जिस तरह संस्कृत के ग्रंथों का प्राच्यवादी पाठ करने वाले विदेशी अध्येता या हिंदूवादी पाठ करने वाले भारतीय।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में संस्कृत में जो नया साहित्य रचा गया, वह अपनी मात्रा में उसमें अठारहवीं शताब्दी तक रचे गये उसके उपलब्ध साहित्य से कहीं अधिक है, और गुणवत्ता में भी उससे आगे का हो सकता है, तो ऐसे अध्येता इस तथ्य को विचारणीय नहीं मानेंगें; क्योंकि ये लोग संस्कृत को आधुनिक सर्जनात्मकता का माध्यम न मान कर उपरिचर्चित विनियोजन के प्रत्याख्यान के लिए साधन मानते हैं।

संस्कृत के भीतर की सर्जनात्मकता से कुछ हद तक नागार्जुन जुड़ते हैं, जो संस्कृत में *लेनिन शतकम* भी लिखते हैं। प्रसाद जुड़ते हैं, जो *ध्रुवस्वामिनी* में संस्कृतशास्त्र-परम्परा से एक जीवंत बहस चलाने की कोशिश करते हैं। संस्कृत में निम्न-मध्यवर्ग किसानों, दिहाड़ी के मज़दूरों और देहात के निम्नवर्ग पर पिछली एक सहस्राब्दी में लिखी गयी कविताओं पर काम करने वाले अध्येता भी उसकी इस सर्जनात्मकता से जुड़ते हैं। इस किताब के दूसरे अध्याय की एक पाद टिप्पणी में (पृ. 197) सिमोना ने इस लेखक के उल्लेख के साथ इन कविताओं की ओर संकेतमात्र किया है।[1]

समोना ने पुस्तक के तीसरे अध्याय में गाँधी के एक कथन को उद्धृत किया है (पृ. 119)। इसमें गाँधी कहते हैं कि किसी ग्रंथ की व्याख्या मानव-बुद्धि और हृदय की तरह विकसित होती चलती है। गाँधी की इस प्रविधि का इस्तेमाल सिमोना ने भी इस पुस्तक में किया है। इस तरह उनके अध्ययन से जो तस्वीर बनती है, वह अपने में प्रामाणिक और समन्वित है, पर अधूरी होने से भ्रामक भी है। इस तस्वीर के अधूरेपन का एक मुख्य कारण यह है कि सिमोना ने संस्कृत और उससे जुड़ी परम्पराओं के संसार को एक 'आउटसाइडर' की हैसियत से देखा है। यह उनकी ताक़त और कमज़ोरी दोनों है। उन्होंने अपने विश्लेषण के लिए जिन साहित्यकारों को चुना है, वे भी (ले दे कर एक सीमा तक हजारीप्रसाद द्विवेदी को छोड़ कर) संस्कृत के अंदरूनी संसार की उपज न होकर उसके बाहर के लोग हैं। प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा अपने हक़ में संस्कृत के जिस कथित विनियोजन के प्रत्याख्यान का आख्यान सिमोना ने इस पुस्तक में प्रस्तुत करना चाहा है, उसके व्याख्याकार संस्कृत की अपनी परम्पराओं से बाहर जा कर अपना विमर्श करते रहे हैं। वे प्रत्याख्यान परम्परा में एक हाशिया भर बनाते हैं, जबकि संस्कृत की अपनी परम्पराओं में प्रतिरोध, प्रत्याख्यान की अपनी प्रबल धाराएँ रही हैं।

अस्तु, भूमिका-भाग में सिमोना बताती हैं कि भारत में आधुनिकता के निर्माण में संस्कृत के गौरव ग्रंथों की महती भूमिका रही है। राष्ट्रवाद का उदय भी भारत के अतीत की पुनर्व्याख्या से सम्भव हुआ। इस उपक्रम में संस्कृत-साहित्य की उपनिवेशवादी, राष्ट्रवादी तथा हिंदू राष्ट्रवादी दृष्टियों से व्याख्याएँ की जाती रहीं। हिंदुत्व ने व्यापक रूप से संस्कृत भाषा और संस्कृत-साहित्य का समायोजन अपने पक्ष में कर लिया। संस्कृत किस तरह संकीर्ण हिंदू राष्ट्रवाद के हवाले की जाती रही तथा उपनिवेशवादी शक्तियों के लिए साधन बना ली गयी, यह बताते हुए सिमोना ने इसके विरुद्ध हुई प्रतिक्रियाओं का सटीक विश्लेषण इस भूमिका में किया है। राजा राममोहन राय ने संस्कृत के माध्यम से पोसे जा रहे हिंदू प्रतिक्रियावाद से लोहा लेते हुए संस्कृत का महाविद्यालय खोलने के बजाय अंग्रेज़ी शिक्षा देने वाला आधुनिक महाविद्यालय खोलने की पुरज़ोर वकालत करते हुए वायसराय को पत्र लिखा। संस्कृत-शिक्षा राममोहन राय के लिए दुरूह शास्त्रों की बोझिल गठरी है, जिसके भार से वे देश को मुक्त करना चाहते हैं। पर यह चर्चा एकपक्षीय और अधूरी इसलिए रह जाती है, इसमें संस्कृत की अपनी परम्पराओं में ही अंतर्निहित प्रगतिवादी शक्तियाँ इस प्रतिक्रियावाद को परास्त करने के लिए किस तरह सक्रिय थीं, यह बात नहीं आ पायी। सिमोना ने यहाँ ईश्वरचंद्र विद्यासागर की चर्चा क्यों नहीं की? राममोहन राय और ईश्वर चंद्र विद्यासागर उस काल की भारतीय मनीषा के दो चेहरे हैं। राममोहन राय रूढ़िवादियों से टक्कर लेने के लिए और शिक्षा के माध्यम से देश को आधुनिकता की पटरी पर लाने के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा की जो पुरज़ोर वकालत करते हैं— इसमें वे एक अर्थ में मैकाले की शिक्षा-नीति के साथ भी हो जाते हैं। विद्यासागर उस स्वदेशी शिक्षा-पद्धति के साथ हैं, जो सहज रूप से नये दौर में अपने आप को आधुनिक बनाने के लिए संकल्पित थी। (धर्मपाल ने *अट्ठारहवीं*

[1] राधावल्लभ त्रिपाठी (1986), *संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा*, संस्कृत परिषद, संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर; राधावल्लभ त्रिपाठी (2012), *संस्कृत कविता में लोकजीवन*, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली.

शताब्दी का भारत तथा अपनी अन्य पुस्तकों में इसका विवरण दिया है।) विद्यासागर ने शास्त्रों की कथित बोझिल गठरी खोलते हुए विधवा–विवाह के समर्थन में संस्कृत में पुस्तक लिखी, । इस काल में संस्कृत का नया आधुनिक व्याकरण भी उन्होंने लिखा (जिसका उपयोग मेरे जैसे आज़ादी के बाद पैदा होने वाले बच्चों को पढ़ाने के लिए बंगाल के बाहर मध्य प्रदेश के छोटे–छोटे शहरों तक शिक्षक करते आये हैं), और लड़कियों की शिक्षा के लिए पहल की। विद्यासागर के ही समकालीन प्रतिभाशाली संस्कृत पंडित और प्रशासक आनंदराम बरुआ, जो असम के पहले आइसीएस थे, लड़कियों के लिए पाठशाला खोलने के उपक्रम कर रहे थे। वे मौनियर विलियम्स के कोश के बरक्स अंग्रेज़ी–संस्कृत कोश इसलिए बना रहे थे कि उसके माध्यम से भारतीयता की नयी आधुनिक पहचान बने। इसी काल में पंडिता रमाबाई, जिन्हें पंडित समाज ने सरस्वती और पंडिता की उपाधि से विभूषित किया, महाराष्ट्र से चल कर बंगाल और असम तक आयीं। इंग्लैंड और अमेरिका की यात्रा करके और ईसाई बन जाने के बाद भी वे फिर लौट कर अपनी ही ज़मीन पर आयीं। रमाबाई के पिता अनंत शास्त्री डोंगरे और स्वयं रमाबाई जिस युयुत्सा के साथ रूढ़िवादी धर्मशास्त्रियों और संकीर्ण मतावलम्बियों से जूझते रहे, उसकी शक्ति उन्होंने संस्कृत की अपनी ज़मीन से ही पाई। काशी के अनेक धुर पारम्परिक पंडित इस काल में नये समय के लिए नया धर्मशास्त्र और नयी संहिताएँ रच रहे थे। उनके बहुसंख्य उदाहरणों में संस्कृत की अपनी आधुनिकता है, जिसकी चर्चा इस पुस्तक में सम्भव नहीं हुई।

संस्कृत की आधुनिकता के सत्यापन चरितार्थीकरण के दो मार्ग हो सकते हैं। एक तो उसमें स्वत: विकसित हो रही युगानुरूपता को चरितार्थ किया जाए, अथवा किन्हीं आधुनिक परिकल्पनाओं को पोसने के लिए उसकी परम्पराओं का विनियोजन कर लिया जाए या उन परिकल्पनाओं का उसकी परम्पराओं पर अध्यारोप किया जाए। सिमोना और जिन अध्येताओं को उन्होंने सप्रमाण यहाँ उपस्थित किया है, वे यह मान लेते हैं कि संस्कृत हमारे समय में जड़ और मृत है उसमें स्वत: कोई दिशा और शक्ति नहीं फूटती। हमें अपने हक़ में उसमें से जो उपादेय निकल सकता है, निकाल लेना चाहिए। संस्कृत के प्रति यह विखंडनपरक उपभोक्तावादी दृष्टि है। यह दृष्टि संस्कृत की अपनी परम्पराओं में ही अंतर्निहित प्रगतिवादी शक्तियों की उपेक्षा करते हुए स्वयंकृत विनियोजन को ज़्यादा तरजीह देते हुए एक तरह से उसी के सम्मोहन में बँधी रह जाती है। पर संस्कृत की स्वत:स्फूर्त शक्तिमत्ता का अपलाप करना जिस तरह एक चूक हो सकती है, उसी तरह सिमोना और उनके अध्ययन के महत्त्व को नकारना भी भूल होगी।

पुस्तक के पाँच अध्यायों में संस्कृत के हिंदूवादी विनियोजन के बरक्स उसके आधुनिक विनियोजन के कुछ अछूते पक्ष खुल कर आये हैं। विनियोजन, दुर्विनियोजन तथा पुनर्विनियोजन की जिन प्रक्रियाओं का सटीक अध्ययन के साथ यहाँ खुलासा सिमोना ने किया है, वे प्राय: आरोप या अध्यारोप (सुपरइम्पोज़ीशन) पर आधारित होती हैं। हिंदूवादी अपने संकीर्ण मतवाद का आरोप संस्कृत पर करके उसकी परम्पराओं को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम या अपने मतवाद के हक़ में समायोजित करते आ रहे हैं। यह सत्य है, पर यह भी सत्य है कि स्वयं सिमोना तथा उनके साथ मोहन राकेश, गाँधी, धर्मवीर भारती आदि जिनके अवदान की चर्चा इस पुस्तक में है, काफ़ी हद कर अपनी परिकल्पना का आरोप ही संस्कृत की ज्ञानराशि या साहित्य भंडार के किसी टुकड़े के ऊपर करते हैं। इसके लिए इन लोगों के पास कुछ वाजिब कारण भी हैं जिनका विवेचन सिमोना ने भूमिका में किया है। कुल मिलाकर ये कारण इस प्रकार हैं : (1) संस्कृत के पारम्परिक विद्वानों की दृष्टि इन ग्रंथों की पढ़त या पारायण में सिमट जाती रही है। इन ग्रंथों के प्रति पावनता का भाव होने से वे उन्हें अपने समय में स्थापित कर के नहीं पढ़ पाते। संस्कृत साहित्य के प्रति एक ऐसा आदरभाव इस दृष्टि में रहा है, जो उसकी समकालीन समझ तथा पुनर्व्याख्या में बाधक है। (2) वेद एक आनुष्ठानिक पाठ है। अनुष्ठान से जोड़ कर पाठ भर में सीमित कर दिये जाने से उसकी सही समझ पैदा नहीं हो पा रही

है। (3) संस्कृत का अध्ययन ऐसी संस्थाओं में अधिक होता है, जो हिंदू मानसिकता से परिचालित हैं या हिंदू संगठनों से। (4) संस्कृत अपने आप में कुलीनता या भद्रता की छाप लिए रही। व्याकरण की दृष्टि से संस्कार ही नहीं, प्राकृत भाषाओं की प्रतिद्वंद्विता में संस्कृत को धर्म के आभामंडल से रक्षित किया गया। (5) संस्कृत एक जीवाश्मभूत (फ़ाज़िलाइज़्ड) भाषा है। कृत्रिम होने से वर्तमान काल के प्रवाह से विच्छिन्न किसी पुरातन समय में ठहर गयी है।

इन पाँचों उपपत्तियों को यथावत कर स्वीकार कर लेना आत्मप्रवंचना ही हो सकती है। संस्कृत के काव्यों का पाठ आधुनिक दृष्टि से करने का प्रयास पंडितों की ओर से भी बराबर होता रहा, वेद को मात्र आनुष्ठानिक पाठ न मान कर एक ऊर्जस्वी काव्य-परम्परा के रूप में पढ़ने का भी उपक्रम बहुत पहले राजशेखर जैसे आचार्यों ने किया। संस्कृत में देशज और भदेस के अनुप्रवेश से भी रचनात्मकता की नयी सम्भावनाएँ खोली जाती रहीं। संस्कृत में अपनी ही भस्म से पुनर्जीवित हो कर उठ खड़े होने की शक्ति बनी रही। इन प्रत्युत्पत्तियों के प्रमाण में प्रचुर उदाहरण प्राप्त हैं।

कुल मिलाकर सिमोना के हिसाब से संस्कृत और उसके साहित्य तथा परम्पराओं के पाठ की तीन ही पद्धतियाँ हैं । एक उनका हिंदुत्ववादी संस्करण रचती है, दूसरी संस्कृत साहित्य के आधुनिक व्याख्यान के क्रम में डी. डी. कोसाम्बी, रोमिला थापर आदि इतिहासकारों की सामाजिक-ऐतिहासिक पद्धति है। संस्कृत साहित्य के आधुनिक व्याख्यान की एक तीसरी पद्धति पश्चिमी प्राच्यविद्याविदों की समीक्षात्मक विश्लेषणात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति में निष्पन्न हुई है, पर उसका दायरा बहुत सीमित है। लेकिन, इन तीन दृष्टियों के अलावा एक चौथी आंतरिक सर्जनात्मक दृष्टि भी है जिसकी चर्चा मैंने यहाँ उठायी और जिसे आधुनिक विनियोजनवादी उपभोक्तावादी दृष्टि अनदेखा करती है।

सिमोना की दृष्टि भी सर्जनात्मक है, पर वह एक आउटसाइडर की दृष्टि है। उनका काम इसलिए सराहनीय है कि वह संस्कृत की आज के भारत की आधुनिक संस्कृति के निर्माण में भूमिका की सम्भाव्यता पर महत्त्वपूर्ण विमर्श बनाता है। सिमोना के अनुसार संस्कृत साहित्य ने आधुनिकता के निर्माण में तीन क्षेत्रों में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया।

सिमोना की दृष्टि भी सर्जनात्मक है, पर वह एक आउटसाइडर की दृष्टि है। उनका काम इसलिए सराहनीय है कि वह संस्कृत की आज के भारत की आधुनिक संस्कृति के निर्माण में भूमिका की सम्भाव्यता पर महत्त्वपूर्ण विमर्श बनाता है। सिमोना के अनुसार संस्कृत साहित्य ने आधुनिकता के निर्माण में तीन क्षेत्रों में विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया। रंगमंच, विशेष रूप से हिंदी रंगमंच जिसने नये राजनीतिक-सामाजिक व राष्ट्रीय संदर्भों में अपनी भूमिका और पहचान स्थापित करने के लिए संस्कृत नाटक और संस्कृत रंगमंच का आधार लिया। दूसरी ओर उपनिवेशवाद के परिप्रेक्ष्य में नये सामाजिक व दार्शनिक लेखन में एक ओर यूरोपीय साहित्य और औपनिवेशिक दृष्टि की समीक्षा की गयी, तो उसके साथ परम्परा की पहचान के लिए संस्कृत साहित्य की। इन दोनों दृष्टियों से भिन्न एक तीसरी दृष्टि में संस्कृत की कृतियाँ बदलते समय में अपना अलग अर्थ खोलती रही हैं। इस तरह अतीत के जीवाश्मीभूत संसार का हिस्सा बन चुकी ये कृतियाँ एक गतिशील नये सामाजिक सांस्कृतिक जगत का हिस्सा बनने लगती हैं।

इसके साथ मानविकी के अध्ययन का सही परिप्रेक्ष्य क्या हो, यह सवाल भी जुड़ा हुआ है, जिसकी ओर बहुत गम्भीरता के साथ अपनी भूमिका के अंत में लेखिका ने ध्यान खींचा है। सिमोना साहनी की चिंता का विषय यह है कि संस्कृत साहित्य की महनीय परम्परा को अकादमिक अध्ययन के दायरे से बाहर लाकर बड़े परिप्रेक्ष्य में कैसे देखा जाए, जो जायज़ है। इसके लिए उन्होंने ऐसे अकादमिक अध्ययनों के दायरे से बाहर जो काम साहित्यिक क्षेत्र में संस्कृत-साहित्य के सम्पर्क से सम्भव हुए हैं, उनकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। इससे यह सम्भावना बनती है कि संस्कृत, जो देश में विभाजन पैदा करने वाला एक बड़ा माध्यम रहा है, वह विभाजन को समाप्त करने वाला माध्यम बन सके।

पहला अध्याय कालिदास के साहित्य में विशेषत: उनके *अभिज्ञानशाकुंतल* में प्रेम और स्मृति के निरूपण पर केंद्रित है। रवींद्रनाथ ठाकुर की व्याख्याएँ अतीत की एक रूमानियत भरी पुन:संरचनाएँ हैं, जो उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय भावधारा की ओर से की गयी प्रतिक्रिया का अंग हैं। उनकी व्याख्या का प्रत्याख्यान सिमोना ने शाकुंतल में प्रेम और स्मृति की उपस्थिति की मीमांसा करते हुए पूरी रचना के एक भिन्न पाठ के द्वारा किया है। *अभिज्ञानशाकुंतल* की अंतर्वस्तु में प्रेम और स्मृति का एक दूसरे का पर्याय बनाते हुए संश्लेषण है। काम या प्रेम का एक नाम स्मर भी है। स्मर का एक अर्थ स्मरण भी है। यह स्मर शब्द की वैयाकरणिक निरुक्ति की दृष्टि से भी संगत है। जो स्मरण का साधन हो वह स्मर है। स्मर शब्द उसी धातु से निष्पन्न हुआ जिससे स्मृति या स्मरण शब्द बने हैं। कामदेव का नाम स्मर इसलिए पड़ा कि वह प्रिय की स्मृति कराता है। प्रेम के बिना स्मृति नहीं और स्मृति के बिना प्रेम नहीं, यह समस्त साहित्य पर लागू होने वाला शाश्वत तथ्य है पर सिमोना की व्याख्या में कालिदास के काव्य-संसार में स्मरण किया जाता प्रेम ही प्रेम के पर्याय के रूप में रह गया है। यह फिर एक अधूरा सत्य है। स्मृति के इस अभिप्राय में प्रेम प्रेम न रह कर स्मरण किया गया प्रेम हो जाता है। तब वह प्रेम न हो कर प्रेम के अवसान के समय इसकी स्मृति भर है। इसी तरह नवजागरण के दौर में जागरित स्वाभिमान भी इस व्याख्या पद्धति से देश के प्रति स्वाभिमान नहीं, स्मरण किया गया स्वाभिमान हो जाता है।

प्रेम के बिना स्मृति नहीं और स्मृति के बिना प्रेम नहीं, यह समस्त साहित्य पर लागू होने वाला शाश्वत तथ्य है पर सिमोना की व्याख्या में कालिदास के काव्य-संसार में स्मरण किया जाता प्रेम ही प्रेम के पर्याय के रूप में रह गया है। यह फिर एक अधूरा सत्य है। स्मृति के इस अभिप्राय में प्रेम प्रेम न कह कर स्मरण किया गया प्रेम हो जाता है। तब वह प्रेम न हो कर प्रेम के अवसान के समय इसकी स्मृति भर है।

मनुष्य स्मृतियों का पुंज है, उसका अस्तित्व ही स्मृतियों पर टिका है। बुद्ध कहते हैं सब कुछ क्षणिक है, प्रति क्षण प्रत्येक वस्तु विनष्ट होती है— हमारा मन, हमारी चेतना भी। तब फिर हम नष्ट हो-हो कर फिर जन्म ले-ले कर भी हमारी वही की वही पहचान स्मृतियों की धारावाहिकता के कारण बनी रहती है। इस अर्थ में यह संसार और मनुष्य-जीवन स्मृतियों के ताने-बाने में गुँथा होने के कारण टिका हुआ है। यों तो साहित्य की कोई विधा या कोई भी साहित्यिक कृति स्मृति के बिना असम्भव है, पर स्मृतियाँ जब संसार, जीवन और अस्तित्व के निर्वाह के लिए माध्यम या साधन भर न रह कर साध्य हो जाएँ, तो साहित्य में स्मृति अलंकार बन जाती है। कालिदास ने स्मृति को अलंकार के व्यापक अर्थ में (जिसकी चर्चा मैं आगे करूँगा) अलंकार बना दिया है। स्मृति

यहाँ नाटक की समस्त सौंदर्यशास्त्रीय संरचना का अंग बन कर आती है। कालिदास स्मृति और प्रेम अन्त:संबंध को एक सहचरण की भूमि पर रख कर प्रकट करते हैं। नाटक के सारे भराव में स्मृतियाँ भिदी हुई हैं। आदि से अंत तक और स्मृति से प्रेम बार-बार पुन: परिभाषित और परिवर्धित किया जाता है। इसलिए नाटक की संरचना में पीछे मुड़ कर देखने की क्रिया का उपयोग कालिदास कई बार करते हैं। इस बात को आगे ले जाते हुए सिमोना ने दो बहुत रोचक बातें कही हैं— एक तो कालिदास के नाटक में प्रेम सचमुच का प्रेम नहीं, याद किया जाता हुआ प्रेम है। स्मृतियों में नायक नायिका की जिस छवि का मन में बार-बार ध्यान करता है, प्रेम उससे से ही है। दूसरे इस प्रेम में हिंसा का पुट है। प्रेम में छिपी हिंसा कई लुभावने और छद्ममय रूपों में प्रकट होती है। कालिदास के *मालविकाग्निमित्र* नाटक में नायिका दासी बन कर रहती है। दासी के प्रति प्रेम उसकी विवशता पर एक तरह रीझना है। उसके आतंक को देख कर होने वाले परपीड़क सुख से जन्मा प्रेम।

दोनों बातें सत्य हो कर भी एक सीमा के बाद कालिदास की कविता का सच नहीं रह जाती हैं। किसी भी कृति का पूरा सत्य उसके पर्यवसान में व्यक्त होता है, मध्यवर्ती प्रसंगों में नहीं। पर्यवसान में दुष्यंत, शकुंतला और मरीचि; ये तीनों पात्र स्मृतियों में पोसी गयी छवियों को तजने या उनसे निष्कृति पाने का संकल्प व्यक्त करते हैं। शकुंतला दुष्यंत की अँगूठी को ही इस बार नकार देती है। दुष्यंत स्मृतियों से निष्कृति पाने की बात करता है। इसके साथ ही पर्यवसान में दुष्यंत प्रेम में निहित अपनी आखेट वृत्ति से भी निजात पाता है। तब फिर रवींद्रनाथ की प्रेम के परिष्कार और अनुताप में चित्त की शुद्धि की बात करने वाली व्याख्या को ही क्यों नकारा जाए? और क्या सिमोना जो कह रही हैं, उसे रवींद्रनाथ ने पूर्वपक्ष के रूप में कह नहीं दिया?

कालिदास की अभिव्यक्ति ग्रीवाभंगाभिराम की बहुत ही दिलचस्प व्याख्या यहाँ की गयी है। दुष्यंत जिस मासूम हरिण का शिकार के लिए पीछा कर रहा है, उसके लिए कालिदास कहते हैं कि वह पीछे आते रथ पर बार-बार गरदन मोड़ कर दृष्टि डालता है। सिमोना के अनुसार ग्रीवाभंग शब्द में केवल मुड़ने का ही अर्थ नहीं (जो कि प्राथमिक अर्थ है) भंग में तोड़ने और नष्ट करने का अर्थ भी निकलता है, जो दुष्यंत के भीतर की हिंसा को व्यक्त करता है। इसके आगे जा कर लेखिका ने हरिण को मृत्यु के दृश्य में तब्दील कर दिया है। (वे शायद यहाँ यह भूल गयी हैं कि एक तापस जब राजा से यह कहता है — निशाने पर साधे इस बाण को वापस ले लो, शस्त्र आर्तजनों को बचाने के लिए हैं, मासूमों पर प्रहार करने के लिए नहीं। दुष्यंत लगभग सहमा हुआ सा चुप हो कर बाण तरकश में वापस रख लेता है। ऐसी स्थिति में हत्या के किसी दृश्य को यहाँ आरोपित किया जाना कालिदास की हत्या कर के ही हो सकता है। कालिदास के अपने पाठ में प्रेम में यदि हिंसा है, तो उसका प्रत्याख्यान भी बार-बार उसी पाठ में किया गया है। आधुनिक व्याख्याकार को यह प्रत्याख्यान नहीं सुहाता। आख्यान ही उसे अच्छा लगता है, वह उसी को पोस कर ख़ुश हो लेता है।

बहरहाल सिमोना की व्याख्या के अनुसार यहाँ प्रेम के भीतर हिंसा छिपी है। प्रेम और मृगया या आखेटवृत्ति का घालमेल हो जाता है। कुल मिलाकर सिमोना *शाकुंतल* में एक ऐसे प्रेम की उपस्थिति देखती हैं, जो अपने में जीवन और मृत्यु का बोध समाहित कर लेता है। पलट पर पीछे ताकने का दृश्य अपने अंतर्निहित अभिप्रायों के साथ में *अभिज्ञानशाकुंतल* में बार-बार आवर्तित होता है। स्मृति और पृष्ठावलोकन के अभिप्राय की अंतर्व्याप्ति की दृष्टि से सिमोना का इस नाटक की संरचना का विश्लेषण समग्र न होने पर भी सटीक और प्रामाणिक है। वे यह भी स्वीकार करती हैं कि कालिदास ने *महाभारत* की प्रखर यथार्थ की कथा में रूमानियत का संचार किया। पर इस रूमानियत को उसके समाजशास्त्रीय संदर्भों में समझने का प्रयास किया गया है, विशेष रूप से राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से इसकी स्थिति पहचानी गयी है। इस सत्ता के संदर्भ में स्त्री की स्थिति प्रेमिका के साथ-साथ सेविका की हो जाती है। अत: रूमान प्रेमिका के समर्पण और दास्यभाव में पनपने वाला रूमान हो जाता है।

कालिदास की ऐसी व्याख्या में रवींद्रनाथ की वह व्याख्या एक ओर धरी रह जाती है जो इस प्रेम का तप के द्वारा परिष्कार कर के इसे अपूर्व पावन दिव्यलोक में प्रतिष्ठित कराती है। प्रेम के साथ सत्ता का खेल जुड़ जाता है, जिसमें प्रेमिका को दी गयी यंत्रणा प्रेम के खेल का एक हिस्सा बन जाती है।

सिमोना की व्याख्या कालिदास के प्रेमनिरूपण को एक अंतर्विरोध के रूप में प्रस्तुत करती है। यहाँ प्रेम अपने भावनात्मक सौंदर्य में तभी अनुभूत होगा जब उसकी स्मृति आयेगी और उसकी स्मृति तभी आयेगी जब वह नष्ट हो चुका होगा। तब प्रेम न स्मृतियों में होगा, न अपने भावनात्मक सौंदर्य में। वह किताबी चर्चा का विषय होगा। पर क्या सचमुच कालिदास में प्रेम की सत्ता स्मृति में ही शेष रह गयी है?

अभिज्ञानशाकुंतल पीछे मुड़ कर देखने, स्मर या स्मृति का ही आख्यान नहीं है। उसके साथ वह अभिज्ञान या पहचान का आख्यान भी है। जिस तरह ग्रीवाभंग या पलट कर देखने का प्रसंग रह-रह कर *अभिज्ञानशाकुंतल* में आवर्तित होता है, उसी तरह उसके नाम के अनुरूप अभिज्ञान का अभिप्राय भी तो उसमें उसी तरह आवर्तित होता है। तब हर अंक में दुष्यंत और शकुंतला की पहचान नये सिरे से नाटककार कराता है, ये एक दूसरे को बार-बार नये सिरे से पहचानते हैं यहाँ तक कि दुष्यंत और शकुंतला के पुनर्मिलन के अंतिम दृश्य में शकुंतला ही सहसा सामने देख कर दुष्यंत को पहचान नहीं पाती। बार-बार पहचान खोने और फिर से हासिल करने में प्रेम पुन:परिभाषित होता चलता है। इस पुन:परिभाषित होने में प्रेमी युगल विकास करते हैं। सिमोना की व्याख्या सही हो कर भी इकहरी और अधूरी है।

लेखिका ने यह सही कहा कि कालिदास उस युग में प्रेम की कथा कहते हैं, जिसमें स्त्री पुरुषतंत्र के अधीन हो कर समर्पण के साथ प्रेम करने के लिए विवश की जाती है। पर वे यह बात कहने से चूक गयीं कि कालिदास ने तीनों नाटकों में इस स्थिति का समर्थन नहीं, प्रतिरोध किया है। इसकी प्रतिक्रिया में वे पुरुष को स्त्री की तेजस्विता और तपस के अधीन या वशवर्ती दिखाते हैं। उसी *शाकुंतल* में जिसमें शाङ्र्गरव पाँचवें अंक में शकुंतला को डपटते हुए कह देता है कि राजा यदि सही कह रहा है कि उसका संबंध तुझसे नहीं था, तो तुझ कुलकलंकिनी से हम लोगों को क्या मतलब। और, यदि तू सत्य कह रही है कि इसने तेरे साथ गांधर्व विवाह किया है, तो अपने पति के कुल में दासी बन कर भी रहना पड़े तो रह। यहाँ भी कालिदास स्वयं इस स्थिति का समर्थन करते हुए अपना मंतव्य इसके पक्ष में दे रहे हों ऐसा नहीं है। वे अपने समय में स्त्री की नियति बता रहे हैं। उनका अपना मन्तव्य या तो विदूषक के कथनों में व्यक्त हो सकता है, या मरीचि जैसे ऋषि के कथन में। *शाकुंतल* के अंत में जब दुष्यंत और शकुंतला का पुनर्मिलन होता है, तो मरीचि शकुंतला को समझाते हुए कहते हैं : शाप के कारण स्मृति का लोप हो जाने से तेरा पति तुझे उस समय नहीं पहचान पाया, अब इसके मन का अँधेरा निकल गया, अब अपने भर्ता पर तेरी प्रभुता है। कालिदास ने दुष्यंत के लिए ऋषि के मुँह से भर्ता शब्द का प्रयोग कराया, क्योंकि शकुंतला का एक पत्नी के रूप में भरण करने की पूरी जिम्मेदारी उसकी है। पर शकुंतला को दिये गये आश्वासन में यह भी ऋषि से कहलवा लिया कि अब पति पर उसी की प्रभुता होगी।

अतएव सिमोना का यह कथन कालिदास की नायिकाएँ राजा / प्रेमी की शक्ति के आगे झुकती हैं (पृ. 33) पूरा सच नहीं है। इसमें फिर यह भी जोड़ा जाना चाहिए कि कालिदास के तीनों नाटकों में नायक इन नायिकाओं को पाँवों पर झुक कर उन्हें प्रणाम करते हैं। ये नायिकाएँ उन्हें प्रणाम नहीं करतीं। (*मालविकाग्निमित्र* के तीसरे अंक में विदूषक द्वारा हँसी-हँसी में धमकाने पर बकुलावलिका अपने साथ राजा को प्रणाम करने के लिए अनिच्छुक मालविका के द्वारा बलात् प्रणाम करवाती है। वह अपवाद है और सादर किया हुआ प्रणाम तो वह नहीं ही है)। साथ ही यह भी कि *शाकुंतल* के अंतिम अंक में जब शकुंतला दुष्यंत को पहचान लेती है और दुष्यंत ही उसके पाँवों पर गिर कर क्षमा माँगता

है, और वह उसे उठने को कहती है, तब दुष्यंत शकुंतला को अँगूठी फिर से देते हुए कहता है तो फिर ऋतु के समागम के चिह्न को फूल की तरह लता फिर से धारण कर ले— तब शकुंतला उत्तर में कहती है : मुझे इसका विश्वास नहीं, आर्यपुत्र ही इसे पहने रहें। इसके साथ ही राजा / प्रेमी की शक्ति के जिस सत्ता के समीकरण की बात यहाँ की गयी है, वह नागर संस्कृति से जन्मा हुआ समीकरण है। कालिदास उसके बरक्स आश्रम संस्कृति की प्रतिसत्ता का समीकरण भी रचते हैं। सिमोना की व्याख्या में सैनिक सत्ता के आगे नागरिक सत्ता निर्बल, कमतर और दबी हुई है, जब कि कालिदास बार-बार आश्रम की प्रतिसत्ता के आगे राजा की सत्ता को झुका देते हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी के महत्त्वपूर्ण विमर्श को तो यहाँ लिया गया है, पर रामविलास शर्मा के उतने ही महत्त्वपूर्ण विवेचन को क्यों तज दिया गया?

मालविका के लिए सिमोना ने यह सही कहा कि भाग्य के विधान से उसे अग्निमित्र के राजकुल में दासी के रूप में रहना पड़ा और राजा अग्निमित्र ने उसे दासी के रूप में चाहा। इस अर्थ में *मालविकाग्निमित्र* स्त्री को दासी बना कर आधिपत्य के साथ प्रेम के रोमांच के अनुभव की कथा बन जाता है। पर इसी नाटक में विदूषक इसी राजा के मुँह पर जब कहता है कि तुम कसाईघर पर मँडराते गीध की तरह हो, जो कच्चे मांस को झपटना भी चाहता है और डरता भी है, तो पुरुषसत्ताक सामंतीय व्यवस्था पर एक कड़ी टीप जड़ कर कालिदास ने इस रोमांच को झकझोर कर क्या तोड़ा नहीं? तीसरे अंक में जहाँ राजा बेहाल हो कर मालविका को खोज रहा है, और वह उसे उद्यान में दिख जाती है, तो विदूषक कहता है अरे यह तो छक कर मदिरा पीने के बाद मछली का चिखोना मिल गया! यहाँ मालविका एक स्त्री नहीं, दासी भी नहीं, स्वाद बदलने के लिए चखोना भर है। विदूषक के इन कथनों में स्त्री के साथ पुरुषसत्ताक समाज द्वारा किये जा रहे व्यवहार को ले कर विडंबना का बोध है।

यह कहा जा सकता है कि उस विदूषक के कहने का क्या मोल, वह तो स्वयं स्त्री को खिलौना बना कर खेले जाने वाले राजा के खेल में उसका संगी है। तब यह भी ध्यान रखना होगा कि राजा के खेल में सम्मिलित होना विदूषक की चाकरी की विवशता है, जिसे वह स्वीकार भी करता है। साँप से डस लिए जाने का नाटक करता हुआ *मालविकाग्निमित्र* का विदूषक इलाज के लिए ले जाते समय रानी धारिणी से कहता है : महोदया जी, अब क्या पता बच पाऊँगा या नहीं, श्रीमान जी की सेवा करते हुए मैंने आपके प्रति जो अपराध किया है, उसके लिए मुझे क्षमा कर देना। इसके साथ ही स्त्री को दास बना कर उसके साथ प्रेम के खेल में पुरुषवादी तंत्र को कालिदास अपने उन्हीं पुरुष पात्रों के माध्यम से तोड़ भी देते हैं, जो इस खेल को शुरू करते हैं। उनके पुरुष पात्र अपने को अपनी प्रेमिका का दास बताने लगते हैं । *मालविकाग्निमित्र* में मालविका के उलाहना देने पर अग्निमित्र कहता है जो स्वयं सेवा करने को तत्पर हो एकांत में उसकी सेवा नहीं की जाती। *कुमारसंभव* में पार्वती के तप से प्रसन्न हुए शिव उससे कहते हैं : हे झुकी काया वाली, तुम्हारे तप से खरीदा हुआ मैं आज से तुम्हारा दास हुआ। ऐसे में यह विचार करना चाहिए कि कालिदास वेदों के सूक्त में वधू को दिये जाने वाले उस आशीर्वाद को ज़्यादा सारवान समझते हैं जिसमें वधू को श्वसुर कुल में सम्राज्ञी होने का आशीर्वाद दिया जाता है, या पत्नी को दासी के रूप में देखने वाली पुरषसत्ताक दृष्टि के साथ हैं? मार्कण्डेय पुराण कहता है जब भार्या और भर्ता एक दूसरे के वशवर्ती हों, तो दाम्पत्य में धर्म, अर्थ और काम तीनों की सिद्धि हो पाती है। कालिदास स्त्री को दासीभाव से देखने के खेल के साथ हैं या वे उस खेल की असलियत उघाड़ कर उसके बरक्स स्त्री-पुरुष की पारस्परिक वशवर्तिता का एक अलग प्रारूप प्रस्तावित कर रहे हैं?

रवींद्रनाथ भी दुष्यंत को मृगयाविहारी के रूप में देखते हैं। वे भी दुष्यंत की हिंसावृत्ति या आखेटक मन की व्याख्या करते हैं, पर वे उसके प्रेम की परिशुद्धि की प्रक्रिया भी *शाकुंतल* में दिखाते

हैं। पर आधुनिक-बोध के तहत जिस प्रेम का उद्‌घाटन कालिदास की कविता के माध्यम से किया जा रहा है वह हिंसा और भय की भित्ति के सहारे ऊपर चढ़ता है। भय बिन होइ न प्रीति का दर्शन यहाँ उलट कर प्रतिफलित कराया गया है। डरा कर अपने भीतर प्रेम का अनुभव करना। सिमोना की पुस्तक में हिंसा एक केंद्रीय अंतर्वस्तु के रूप में बार-बार वापस आती है। रवींद्रनाथ की प्रेम की परिष्कृति और हजारीप्रसाद द्विवेदी की त्याग और भोग के समन्वय की व्याख्या का संदर्भ सिमोना ने दिया है, पर उसमें अंग्रेज़ी में अनुवाद करने की मुश्किल से भ्रांति हुई लगती है। रवींद्रनाथ ने कालिदास को निसर्गकवि और उनकी नायिका शकुंतला को निसर्गकन्या कहा है। यहाँ निसर्ग नेचुरल फिनोमिना के अर्थ में है। हिंदी में इस निसर्ग के लिए प्रकृति शब्द भी चलता है। पर संस्कृत की परम्परा में प्रकृति नेचुरल फिनोमिना के अर्थ में प्राथमिकतया नहीं आती, आद्य या अनादि सृष्टि के अर्थ में आती है। दूसरी ओर रवींद्रनाथ और हजारीप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि तप और संयम की साधना द्वारा कालिदास मानव-प्रकृति का परिष्कार दिखाते हैं। यहाँ प्रकृति शब्द और भिन्न अर्थ में है। सिमोना ने कदाचित पृ. 36 पर पहली प्रकृति और मानव-प्रकृति दोनों को एक समझ कर देरिदा और विखंडन की प्रविधियों का अवतार यहाँ करा दिया— जिसकी आवश्यकता नहीं थी। रवींद्रनाथ व हजारीप्रसाद द्विवेदी की व्याख्याओं से आगे जाने का प्रयास करते हुए सिमोना ने दुर्वासा के शाप को भी पुरुष के वर्चस्व और स्त्री की दुर्बलता में काम के रोमांच का अनुभव करने की प्रवृत्ति के संदर्भ में जाँचा है। शक्ति और निर्बलता, वर्चस्व और समर्पण— के समीकरणों के माध्यम से सारे मिथक की व्याख्या की गयी है, जो रोमिला थापर आदि की पद्धति पर है। कालिदास बार-बार आश्रमों की ओर लौटते हैं, उसे नागरकवि का जंगल के लिए स्मृतिदंश मान लिया गया है (पृ. 42)। तब कालिदास शाकुंतल की परिणति आश्रम में क्यों कराते हैं? इस तरह की व्याख्याओं के पीछे पश्चिमी प्राच्यविदों की यह मान्यता भी रही है कि कालिदास गुप्तकाल में हुए और गुप्तकाल इतिहास का स्वर्णयुग था। सिमोना ने पहली शताब्दी ईसापूर्व में कालिदास के होने के दूसरे पक्ष को तो विचारणीय ही नहीं समझा है।

संस्कृत की परम्परा में प्रकृति नेचुरल फिनोमिना के अर्थ में प्राथमिकतया नहीं आती, आद्य या अनादि सृष्टि के अर्थ में आती है। दूसरी ओर रवींद्रनाथ और हजारीप्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि तप और संयम की साधना द्वारा कालिदास मानव-प्रकृति का परिष्कार दिखाते हैं। यहाँ प्रकृति शब्द और भिन्न अर्थ में है।

रवींद्रनाथ के हवाले से सिमोना ने आधुनिक पाठक द्वारा पुरातन कालजयी रचना की पढ़त की प्रक्रिया को नया आयाम दिया है, जहाँ प्रत्येक पाठ एक रूपक में तब्दील होता जाता है। उपनिवेशवादी समय में रह रहे पाठक के लिए मेघदूत में यक्ष का निर्वासन और वियोग एक गौरवशाली देश से विच्छिन्न होने का बोध जगाता है। इसके आगे सिमोना ने बेहद खूबसूरत ढंग से कालिदास के कृतित्व को ही एक ऐसे युटोपिया के रूपक में तब्दील कर दिया है, जो हमसे छूट गया, और अब हम समझ नहीं पा रहे कि उसे कैसे फिर से हासिल कर सकते हैं। यह आधुनिकता की एक बड़ी कशमकश भी है।

दूसरा अध्याय मोहन राकेश पर विशेष रूप से केंद्रित है। संस्कृत की आधुनिकता के संदर्भ में मोहन राकेश को चुनने के पीछे सिमोना के पास दो महत्त्वपूर्ण कारण हैं। एक तो राकेश का

आधुनिकता को लेकर सरोकार और दूसरे संस्कृत की रचनाओं को अपने संदर्भ में समझने के लिए उनकी छटपटाहट। राकेश को लेकर ऐसी पैनी पड़ताल, इतनी संवेदनशील और बारीक समीक्षा कम ही मिलेगी, जो सिमोना ने यहाँ की है। कालिदास और संस्कृत की रचनाएँ मोहन राकेश को इस अर्थ में रचनात्मक चुनौती देती हैं कि वे उनसे अलग हट कर लिखना चाहते हैं। श्रीकांत वर्मा और मोहन राकेश दोनों का लेखन कालिदास से इस अर्थ में प्रतिकृत है। यह कालिदास से अलग हट कर कुछ और करने की छटपटाहट या कालिदास को कठघरे में खड़ा करने की कोशिश (धर्मवीर भारती के यक्ष का निवेदन) या फिर इन दोनों की तुलना में कालिदास से सूत्र ले कर नया रचने की कोशिश सब में संस्कृत की आधुनिकता प्रतिफलित होती है।

आषाढ़ का एक दिन का नायक कालिदास मोहन राकेश की अपनी विफलता और अधूरेपन का प्रक्षेप है। रवींद्रनाथ की पद्धति का उलट मोहन राकेश में है, यदि रवींद्र कालिदास के स्वर्गीय संसार को अपने समय में उतारने की कामना करते हैं, तो मोहन राकेश अपने समय और अपने स्वयं के भीतर की उथल-पुथल तथा विसंगति सब को कालिदास और उनके समय पर आरोपित करते हैं। सिमोना का कथन है कि वे भविष्य की ओर देख रहे हैं। संस्कृत की आधुनिकता उसके अपने साहित्य से स्वत: विनिसृत होती हुई आधुनिकता को माना जायेगा या अपने समय के संशयों-बंधनों को संस्कृत की कृतियों में आरोपित कर उन्हें आधुनिक परिधान में प्रस्तुत करने को संस्कृत की आधुनिकता कहा जायेगा? सिमोना ने सुरेंद्र वर्मा के *आठवाँ सर्ग* को चर्चा करने योग्य नहीं समझा। क्या इसलिए कि वह कालिदास को रचनाकार की स्वाधीनता के संदर्भ में अपेक्षाकृत अधिक गरिमा के साथ प्रस्तुत करता है? सिमोना ने स्वयं यह स्वीकार भी किया है कि मोहन राकेश अपने समय के प्रतिनिधि रचनाकार नहीं हैं। पर संस्कृत के काव्यों या नाटकों का उन्होंने अपने नाटकों में जो रचनात्मक उपयोग किया उसके कारण वे इस पुस्तक की लेखिका को बहुत विचारणीय व महत्त्वपूर्ण लगते हैं। कालिदास मोहन राकेश के लिए एक बहाना बन जाते हैं, रवींद्रनाथ या हजारीप्रसाद द्विवेदी के लिए कालिदास नवोन्मेष उस संसार के प्रतीक हैं जिसे अपने समय में वे देखना चाहते हैं। राकेश कालिदास से जो लेते हैं, उसका अवसान अपनी अन्य रचनाओं की तरह अधूरेपन और आत्मनिर्वासन, अजनबियाने तथा संशय, तनाव और द्वन्द्व में करते हैं उनकी दृष्टि से वियोग और दु:ख को गरिमामय रूप में प्रस्तुत करने वाले काव्य के भीतर छद्म हो सकता है। सौंदरनंद पर आधारित नाटक के प्रथम प्रारूप *रात बीतने तक* में मोहन राकेश अश्वघोष के अनुवर्ती हैं, उसके संशोधित प्रारूप लहरों के राजहंस में वे अश्वघोष के सामने चुनौती और प्रश्नचिह्न बनाते हैं। राकेश ने नाट्यभाषा की खोज में संस्कृत नाटक की परम्परा का कुछ सहारा लिया। नाटक दृश्य-कविता है। भाषा केवल शब्द नहीं, लय और ध्वनियों से निर्मित माध्यम है। राकेश की नाट्यभाषा या रंगभाषा की यह खोज भी उनके सारे लेखन के ही समान अधूरी रही क्योंकि वे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और उसकी प्रविधियों को न पकड़ पाये। संस्कृत काव्य की प्रबल धारा राकेश के लेखन में अंतर्निहित है, वे इसे मोड़ना और छोड़ना भी चाहते रहे।

वस्तुत: नाटक के क्षेत्र में संस्कृत परम्पराओं के साथ भारतीयता और आधुनिकता को प्रतिष्ठित करने वाले दो रचनाकार उल्लेखनीय हैं भारतेंदु और प्रसाद। दोनों का उल्लेख सिमोना ने इस संदर्भ में नहीं किया है। प्रसाद का उल्लेख अवश्य अंतिम अध्याय में है, पर बहुत भिन्न संदर्भ में।

दयाकृष्ण ने एक बार यह मत व्यक्त किया था कि भगवद्गीता को हिंदू समाज में प्रतिष्ठित करने का काम नौवीं शताब्दी में शंकराचार्य ने किया। उसके पहले भगवद्गीता एक धर्मग्रंथ के रूप में समादृत नहीं थी। सिमोना ने तीसरे अध्याय की शुरुआत आशिस नंदी के उस उद्धरण से की है, जिसमें शंकराचार्य को महात्मा गाँधी द्वारा विस्थापित कर के गीता के विषय में इसी तरह की बात दोहरायी गयी है। गाँधी ने गीता की व्याख्या का अभिमुखीकरण अन्यत्र कर दिया है। हिंसा के प्रश्न को ले कर उन्होंने गीता को अहिंसा का प्रतिपादन करने वाला सबसे बड़ा ग्रंथ बताया।

अतीत को ले कर स्मारकवादी, पुरातनवादी और समीक्षात्मक ये तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं। प्राचीन कृति का ऐतिहासिक पाठ और क्रियावादी (एक्टिविस्ट) पाठ, दो प्रकार से ये पाठ सम्भव है। द्वितीय कोटि के पाठ में प्राचीन कृति पाठक के अपने समय में सक्रिय हो जाती है। सिमोना के अपने स्वयं के आलकन में उन्होंने पहले दो अध्याय ऐतिहासिक पाठ की दृष्टि से लिखे हैं, जबकि गाँधी और गीता को ले कर तीसरे अध्याय की चर्चा में गाँधी के एक्टिविस्ट पाठ का विवेचन है। गाँधी एक एक्टिविस्ट पाठक हैं। सिमोना गीता को एक अध्यात्म की पुस्तक के रूप में न देखते हुए इसका एक इतिहास पाठ प्रस्तुत करती हैं, जहाँ देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता का आख्यान, समर्पण व एकनिष्ठ भक्ति पर बल तथा अनासक्ति योग ये सब एक राजनीतिक एजंडे के अंग हैं। गीता में अध्यात्म तत्त्वों का जो मसाला भरा गया है, वह युद्ध के राजनीतिक लक्ष्य को ग्राह्य बनाने के लिए है। आध्यात्मिकता, भक्ति का दर्शन और अनासक्तियोग— यह सब गीता का एक मुखौटा है, अथवा उसके वाकोवाक्य (रेटरिक) का अंग है। उसके पीछे असली चेहरा क्षत्रिय को युद्ध में लगाना और विजयलिप्सा है। कुल मिला कर अनासक्ति, भक्ति और अध्यात्म गीता में साधन हैं। गीता युद्ध की वकालत करती है, युद्ध को एक आध्यात्मिक आवश्यकता बता कर युद्ध के रूप में हिंसा का प्रतिपादन करती है। युद्ध की अनिवार्यता और आध्यात्मिक आवश्यकता का प्रतिपादन साक्षात भगवान के मुख से करा कर गीता ने इसे धार्मिक पावनता का परिधान दे दिया है।

गाँधी की दृष्टि में गीता का सारा प्रतिपाद्य अन्ततः अहिंसा की स्थापना के लिए है, क्योंकि उससे वैश्विक व्यवस्था रची जा सकेगी। सिमोना के अनुसार गाँधी ने साधन को ही साध्य बना कर गीता का एक और पाठ ग्रहण किया।

गाँधी की दृष्टि में गीता का सारा प्रतिपाद्य अन्ततः अहिंसा की स्थापना के लिए है, क्योंकि उससे वैश्विक व्यवस्था रची जा सकेगी (पृ.108)। सिमोना के अनुसार गाँधी ने साधन को ही साध्य बना कर गीता का एक और पाठ ग्रहण किया। गाँधी गीता को एक रूपक मान कर ऐसा कर सके। गीता भौतिक स्तर पर यथार्थ की कथा नहीं, वह हमारे भीतर निरंतर चलने वाले द्वन्द्व की प्रतीकात्मक कथा है।

कृष्ण के चरित्र की द्विविध व्याख्या की जाती रही है। एक तो वे भगवान हैं। उन्होंने जो किया वह अलोकसामान्य तथा अचिंत्यहेतुक है। सामान्य बुद्धि से सामान्यजन उसकी न तो अपने तर्क से मीमांसा करें, न उसके अनुकरण का प्रयास करें। दूसरी पद्धति प्रतीकात्मक व्याख्यान की है। भागवत में चीरहरण आदि प्रसंगों के प्रतीकात्मक स्तर पर व्याख्यान की लम्बी परम्परा रही है। गोपियाँ इंद्रियाँ हैं, कृष्ण परमात्मा हैं, चीरहरण आवरण को हटाना है। यह पद्धति गाँधी ने भी अपनायी। महाभारत और गीता के विवरणों के जंजाल में न जाकर तत्त्व या सार को पकड़ना चाहिए। यह गीता के पाठ का अपने जीवन दर्शन की स्थापना के लिए विनियोजन है।

गीता ने तो स्वयं अपने से पहले के सिद्धांतों, दर्शनों को ले कर यही पद्धति अपनायी। उनके सार तत्त्व लेकर अपने दर्शन के लिए उनका विनियोजन किया। पाठ की सम्भावनाओं व व्याख्यान की निरंतरता के इस क्रम में हिंसा और युद्ध के लिए प्रेरित करने

वाली कृति गाँधी के लिए अहिंसा व अपरिग्रह का सबसे प्रेरक सूत्र बन जाती है। ग्रंथ एक सजीव गुरु बन जाता है। तब गुरु भी एक प्रतीक होता है। गुरुभक्त शिष्य यह भूल जाता है कि वह हाड़ मांस का एक मनुष्य भी है, उसकी अपनी दुर्बलताएँ हो सकती हैं। शिष्य अपने तर्क से गुरुमत का विनियोजन कर लेता है। सिमोना के व्याख्यान में गाँधी इस अर्थ में आधुनिक हैं। वे अपने स्वयं के तर्क की कसौटी पर ग्रंथ को कसते हैं, यदि ग्रंथ में उस तर्क के विरुद्ध कोई प्रतिपाद्य हो भी तो वह अग्राह्य होगा। उसकी अग्राह्यता उसे प्रक्षेप बता कर स्थापित की जायेगी।

गाँधी की व्याख्या पद्धति संग्रह-त्याग की प्रणाली पर आधारित है। जो अपने सत्य के अनुरूप हो, उसे प्रामाणिक मान कर चुना जाए। चयन के साथ अपने अनुरूप उसका विनियोजन भी वे करते हैं। दूसरी ओर आम्बेडकर हैं, जिनकी व्याख्या निरस्तीकरण पर आधारित है। वे हिंदू शास्त्रों को पूरी तरह खारिज करते हैं। अपनी गाँधी और आम्बेडकर की तुलनात्मक मीमांसा में सिमोना का यह कथन विचारणीय है कि गाँधी गीता आदि ग्रंथों की व्याख्या प्रतीक विधान द्वारा करते हुए उनके प्रतीकों के बिना ग्रंथों का जो अभिधात्मक कलेवर है उसे एक अर्थ में ख़ारिज ही करते हैं। आम्बेडकर भी यही करते हैं।

चौथा अध्याय धर्मवीर भारती के *अंधा युग* और *महाभारत* के समकालीन आख्यान पर केंद्रित है। *महाभारत* के बारे में सिमोना का निष्कर्ष है कि उसमें एक स्वर नहीं स्वरों की बहुलता है। एक लेखकीय दृष्टि सम्भव नहीं है। इसके विपरीत *महाभारत* का एक पाठ आठवीं शताब्दी में आनन्दवर्धन करते हैं। वे उसमें शांत रस की प्रधानता व एक समग्र अन्विति का प्रतिपादन करते हैं। आनंदवर्धन का प्रतिपादन महाभारत के पर्यवसान की दृष्टि से है। कोई कृति अपने पर्यवसान में अपना सही अर्थ खोलती है। पर सिमोना की व्याख्या में *महाभारत* हिंसा को रमणीय बना कर प्रस्तुत करता है। युद्ध के रूप में क्षत्रिय के लिए एक नैतिक दायित्व है। भारती यद्यपि हिंसा के विरुद्ध स्वर उठाते हैं, पर अंतत: वे हिंसा का गरिमामंडन ही करते हैं।

इस अध्याय के आरम्भ में मुक्तिबोध का कथन उद्धृत है, जिसमें *अंधा युग* के महत्त्व की घोषणा है। पर सिमोना ने मुक्तिबोध के एक महत्त्वपूर्ण निबंध को विस्मृत कर दिया है, जिसमें मुक्तिबोध प्रसाद के मुकाबले भारती को बेहद कमज़ोर पाते हैं, क्योंकि प्रसाद में जीवन दर्शन बनता है भारती में नहीं। भारती *महाभारत* के युद्ध के गरिमामंडन से इस अर्थ में भिन्न स्वर उठाते हैं कि उनके यहाँ युद्ध अपने आप में मर्यादाभंग है। सिमोना ने *अंधा युग* की कमज़ोर नस पहचानी है। कृष्ण को अंतिम आशा और मर्यादा की स्थापना के प्रतीक के रूप में उपन्यस्त करते हुए नाटककार उनके द्वारा किये गये कपट के कार्यों की संगति नहीं बिठा पाता। कृष्ण के नये अवतार की यह प्रस्तुति आधुनिक काल में हिंदूवाद की वापसी को भी इंगित करती है।

धर्मवीर भारती कृष्ण को करुणामय रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे सबका पाप अपने ऊपर ले लेते हैं। आनंदवर्धन *महाभारत* को युद्ध के काव्य के रूप में नहीं, शांतरस के महाख्यान के रूप में देखते हैं। पर धर्मवीर भारती का नाटक अश्वत्थामा को पराजित दिखा कर भी उसके हिंसामय अभियान को गौरव देता है। सिमोना स्वीकार करती हैं कि यह हिंसा बंबइया हिंदी फिल्मों में प्रतिशोध के लिए नायक के द्वारा की जाने वाली हिंसा के समान है। सिमोना की व्याख्या में *अंधा युग* के केंद्र में न युयुत्सु हैं, न कृष्ण, अश्वत्थामा नाटक का केंद्र है। अश्वत्थामा की उन्मत्त हिंसा आनन्ददायिनी बन जाती है। भारती के बंगलामुक्तिवाहिनी के संग्राम पर लिखे यात्रावृत्त का इस प्रसंग में हवाला दे कर हिंसा को गौरव प्रदान करते हैं।

पाँचवें अध्याय में कलात्मकता के संदर्भ से हजारीप्रसाद द्विवेदी, बुद्धदेव बोस, रामचंद्र शुक्ल तथा जयशंकर प्रसाद इन चार साहित्यकारों के चिंतन में संस्कृत की उपस्थिति की पड़ताल है।

अलंकार का अर्थ सिमोना ने आर्नामेंटेशन ही लिया है तथा रामचंद्र शुक्ल ने व्यास, वाल्मीकि और कालिदास आदि के हवाले से कविता में अलंकार को बाह्य तत्त्व माना है। इधर संस्कृत के पंडितों ने ध्वनिवाद के बरक्स अलंकार को साहित्य के अंतरंग और अविभाज्य तत्त्व के रूप में स्थापित करते हुए दंडी, वामन और भोज आदि आचार्यों का पुनरुद्धार किया है तथा नया काव्यशास्त्र भी रचने का उपक्रम किया है। तब नये समीक्षकों को अलंकार की पिटी-पिटाई रूढ़ अवधारणा पर पुनर्विचार करना चाहिए। इसके साथ ही संस्कृत की पारिभाषिक पदावली को अंग्रेज़ी में समझने से विसंगति हुई है, उसे भी समझा जाना चाहिए। अलंकार अंग्रेज़ी के फ़िगर आफ़ स्पीच से भिन्न है। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अलंकार को साहित्य का समग्र सौंदर्य माना। सिमोना ने यहाँ यह तो सही कहा कि काव्य में पर्याप्ति या समग्रता के आधायक सभी तत्त्व अलंकार हैं। तब उसके कथ्य का निर्माण करने वाली सारी कोटियाँ भी अलंकार में ही परिगणित होंगी। अलंकारवादी आचार्यों ने इस दृष्टि से रस, भाव, गुण, रीति सभी को अलंकार का ही अंग माना। आनंदवर्धन, जिनका हवाला यहाँ दिया गया है, वे भी जानते हैं कि कविता के अलंकार उस तरह से अलग कर के बाहर नहीं निकाले जा सकते, जिस तरह देह के अलंकार। अलंकार के आचार्यों ने वास्तवमूलक या यथार्थमूलक अलंकारों की जो कोटि मानी उसमें यथार्थ का चित्रण करने वाली सारी विधाएँ आ जाती हैं।

अलंकार अंग्रेज़ी के फ़िगर आफ़ स्पीच से भिन्न है। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अलंकार को साहित्य का समग्र सौंदर्य माना। सिमोना ने यहाँ यह तो सही कहा कि काव्य में पर्याप्ति या समग्रता के आधायक सभी तत्त्व अलंकार हैं। तब उसके कथ्य का निर्माण करने वाली सारी कोटियाँ भी अलंकार में ही परिगणित होंगी।

अस्तु, इस अंतिम अध्याय में उल्लिखित विचारकों या साहित्यिकों में हजारीप्रसाद द्विवेदी का उल्लेख पहले और प्रसाद का सबसे बाद में करने में इतिहास की दृष्टि से क्रमव्यत्य हुआ है। प्रसाद इनके बीच अकेले हैं, जो पश्चिम का आकलन संस्कृत परम्पराओं के माध्यम से करते हुए पश्चिमी मानकों की अपर्याप्तता पर विचार करते हैं। मेरी समझ से भारतीय आधुनिकता का एक मानक यह भी माना जाना चाहिए कि पश्चिमी मानकों से अपने साहित्य और अपनी परम्पराओं को आँकना छोड़ कर हम पश्चिम को अपने मानकों से आँकने का प्रयास करें। प्रसाद जिस साफ़गोई के साथ पश्चिम को अपने मानक से यहाँ आँकते हैं, उसकी दृष्टि से उन्हें इस अध्याय में विचारित शेष तीन साहित्यकारों की तुलना में कहीं अधिक आधुनिक कहा जाना चाहिए।

बुद्धदेव बोस को कदाचित सिमोना ने इस पुस्तक में कुछ जगह इसलिए दे दी है कि वे रवींद्रनाथ की कथित रूप से पुनर्जागरणकाल में उपजी राष्ट्रीय भावधारा से जुड़ी रूमानियत भरी और अतीत की ओर गद्गद हो कर ताकती रह जाने वाली समीक्षा की खाल उधेड़ते हैं। बुद्धदेव मानते हैं कि संस्कृत भाषा अपने आप में छल है। उसके माध्यम से जो कहा जाता है, इसमें भाषा का अम्बार समाया रहता है। इस तरह के वचन उछालने वाले अध्येता यह भूल जाते हैं कि भाषा और सत्य के अंत:संबंधों की गहरी मीमांसा धर्मकीर्ति, भर्तृहरि, नागार्जुन, नागेशभट्ट आदि ने इसी संस्कृत भाषा के माध्यम से की। बुद्धदेव बोस संस्कृत साहित्य के एक बहुत कमज़ोर अध्येता हैं। उन्होंने जुमलेबाजी की हद तक जा कर संस्कृत साहित्य की परम्परा को ले कर कुछ बातें उछाल दीं, जिनका मूल उनकी रवींद्रनाथ-ग्रंथि है।

यह सत्य है कि रवींद्रनाथ संस्कृत कविता पर निछावर हैं। पर उनका निछावर होना गहरे अध्ययन और कविता की अचूक पकड़ के साथ है। यह भी सत्य है कि संस्कृत कविता की परम्परा से प्रभावित हो कर, बल्कि उसमें रच-बस कर जितना अधिक रचनात्मक और रमणीय साहित्य रवींद्रनाथ ने लिखा उतना अन्य किसी भी भारतीय साहित्यकार ने न लिखा होगा। उनकी दो सौ के करीब कविताएँ तो सीधे-सीधे *मेघदूत* से प्रेरित हैं। उन्नीस वर्ष की आयु में वे *मेघदूत* शीर्षक से कविता लिखते हैं, तीस वर्ष की आयु में *मेघदूत* शीर्षक निबंध, पैंतीस की उम्र में *मेघदूत* पर एक सानेट, चालीस वर्ष की उम्र में उनके लिखे *नववर्षा* निबंध में फिर मेघदूत घुमड़ता है, फिर इकतालीस की आयु में *बाजेर कथा*। यह सिलसिला इकसठ के हो जाने पर लिखी *मेघदूत* शीर्षक लघुकथा में, इकहत्तर के हो चुकने के बाद एक-एक दो-दो साल के अंतराल पर लिखी *मेघदूत* विषयक कविताओं में जारी है।[2] संस्कृत के पंडितों के बीच एक कहावत है मेघे माघे गतं वयः मेघदूत और माघ कवि के महाकाव्य को पढ़ने में उमर बीत गयी। पर क्या रवींद्रनाथ का कालिदास से लगाव व्यामोह ही है?

बोस संस्कृत भाषा को ही वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए असमर्थ मानते हैं। उन्हें संस्कृत में रची गयीं उन बहुसंख्य प्राचीन रचनाओं का कोई आभास तक नहीं है, जो गाँव-घिराँव, खेत-खलिहान से सीधे उपजी हैं। न उन्हें संस्कृत की उन महाकाव्यात्मक कृतियों की ख़बर है, जिनमें इतिहास के षड्यंत्र, क्रूर और वीभत्स नंगा यथार्थ बेहद तल्ख़ और बेबाक हो कर बयान किया जाता है, वह भी एक विराट केनवस पर (जैसे *रजतरंगिणी*)। वेश्याओं के कोठों में मची लूटपाट, देह की लिप्सा को ले कर वह साहित्य जिस पर मंटो जैसे लेखकों को रश्क हो, गलियों, मेलों-ठेलों, शराबख़ानों में हो रही जीवन की झलक जो क्षेमेंद्र के विशाल साहित्य या दामोदर के *कुट्टनीमतं, चतुर्भाणी* आदि में है— उस पर अध्ययन की कमी के कारण बोस की दृष्टि नहीं गयी। संस्कृत में जन-जीवन से जुड़े साहित्य की लम्बी परम्परा यदि बुद्धदेव को अपने अज्ञान और हेकड़ी के चलते न दिखी तो वे तरजीह देने लायक नहीं हैं। अब जब कि हमारे सामने प्रमाण हैं कि इस तरह की रचनाएँ संस्कृत में छिटपुट नहीं, बड़ी तादाद में पहले भी लिखी गयीं और अभी तक इनका सिलसिला जारी है, तो सिमोनाजी को यह तय कर लेना होगा कि किसी छद्म व्यामोहग्रस्त आधुनिकता के कथित बोध से संस्कृत को छद्म बताने वाले को आधुनिक कहा जायेगा, या बिना किसी विनियोजन की ज़रूरत के जो संस्कृत साहित्य हमें अब भी समकालीन लगता है, उसकी बात करने वाले आधुनिक कहे जाएँगे। रही बात भाषा में शब्दों के अम्बार में तब्दील होते जाने और कविता के हर वर्णन के एक छल बन जाने की, तो क्या वह केवल संस्कृत की ही समस्या है, अन्य भाषाओं के रचनाकर्म की नहीं? रवींद्रनाथ जिस तरह पंक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्द को समझ कर समीक्षा कर रहे हैं, बोस नहीं। यदि रवींद्रनाथ की समीक्षा करुणार्द्र कवि हृदय का रूमानभरा भावोच्छ्वास और संस्कृत काव्य जगत के प्रति अतिरंजित असीम आकर्षण से है, जैसा बोस ने उसे ख़ारिज करते हुए कहा है, तो बुद्धदेव बोस की समीक्षा भी उतनी ही अतिरंजित और बहुत अज्ञानविजृंभित भी है।

पुस्तक का अंतिम अंश आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धांत पर है। सिमोना ने उचित ही पुस्तक का समापन आनंदवर्धन के प्रतिपादन से किया। ध्वनिसिद्धांत अपने आप में कविता की सम्भावनाओं के आनंत्य का आख्यान है। उसके सूत्र से प्राचीन कविता में भी हमारे युग में नयी सम्भावनाएँ देखी जा सकती हैं।

उपसंहार में प्लेटो का कविता के प्रति धिक्कार पर विचार है। प्लेटो कविता को त्याज्य कहते हैं क्योंकि वह विलाप के माध्यम से न्याय और सत्य से दूर ले जाती है। इसके बरक्स क्रौंच पक्षी के

---

[2] इंद्रनाथ चौधरी (2011), 'कालिदास का मेघदूत और रवींद्रनाथ ठाकुर', *संस्कृतविमर्शः*, नवशृंखला, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, अंक 5: 99-110.

विलाप से आदिकाव्य की रचना का वाल्मीकि का शोक का श्लोक के रूप में समीरण करुणा का गान ही नहीं, शाप के माध्यम से हिंसा के भाव की भी अभिव्यक्ति है। वाल्मीकि की करुणा एक हिंसक करुणा है। इतिहासकाव्य इस अर्थ में युद्ध के उत्सव हैं। यहाँ यह जोड़ा जा सकता है कि काव्य शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार जिस धातु से निष्पन्न हुआ है, उसका अर्थ वर्णन करना तथा हिंसा करना दोनों है। कविता प्रस्तुत जगत के ध्वंस के साथ ही नवीन जगत की रचना करती है। भवभूति के *उत्तररामचरित* में वाल्मीकि के राम की एक समीक्षा भी है। इस अर्थ में भवभूति अपने राम की प्रस्तुति में वाल्मीकि के राम का ध्वंस करते हैं। करुणा भवभूति में एक राजनीतिक गुण है।

यह पुस्तक लेखिका के अध्ययन की नवीनता और तेजस्विता के साथ संस्कृत की आधुनिकता का एक बहुत छोटा सा कोना खोलती है। उसके अधिक बड़े आयामों की ओर भी अब ध्यान दिया जाना चाहिए। यह पुस्तक बेहद विचारोत्तेजक है और इसके कुछ मंतव्यों पर कड़ी टीप यहाँ इसलिए भी की गयी है कि इस पर और बहस की गुंजाइश बनी रहे।